

संगीत की लोक विधाओं में रसत्त्व का स्थान

डॉ० मणिकान्त कुमार

संगीत शिक्षक, परियोजना बालिका +2 विद्यालय मेघौल, खोदावन्दपुर, बेगुसराय

सारांश

प्रस्तुत शोध पत्र में संगीत कला के उद्भव, स्वरूप तथा विकास की विवेचना की गई है। प्राचीनकाल में 64 कलाओं में संगीत को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। कालान्तर में ललितकलाओं को चल एवं अचल दो भागों में विभाजित किया गया, जिनमें संगीत को चल कला के अंतर्गत रखा गया क्योंकि इसकी प्रस्तुति बिना विशेष उपकरणों के सहज रूप से संभव है। भारतीय संगीत परंपरा मुख्यतः दो रूपों मार्गी एवं देसी में विकसित हुई। मार्गी संगीत धार्मिक एवं आध्यात्मिक साधना से जुड़ा हुआ था, जबकि देसी संगीत जनजीवन एवं मनोरंजन का अंग बना। लोकसंगीत स्थानिक भाषा, रीति-रिवाज, त्यौहार, व्यवसाय एवं भौगोलिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर विकसित हुआ और आम जनमानस की भावनाओं का सहज अभिव्यक्ति माध्यम बना। इसमें रसाभिव्यक्ति अत्यंत स्वाभाविक होती है, जैसे श्रृंगार, करुण, हास्य आदि रस। असम का बिहू, गुजरात का गरबा तथा अन्य प्रांतीय लोकनृत्य-गीत इसके जीवंत उदाहरण हैं। निष्कर्षतः लोकसंगीत अपनी सरलता, सहजता एवं नैसर्गिकता के कारण आम जनता के जीवन का अभिन्न अंग है तथा सौंदर्य एवं भावाभिव्यक्ति की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

शब्द कुँजी:- लोकसंगीत, शास्त्रीय, उपशास्त्रीय, अभिव्यक्ति, देसी, मार्गी, ललितकला, रस, भाव,

मूल आलेख

गायन, वादन तथा नर्तन – इन तीनों कलाओं के समन्वय को ‘संगीत’ कहा जाता है। प्राचीन साहित्यों में कला के 64 प्रकारों का वर्णन किया गया है, जिसे कामसूत्र के टीकाकार यशोधर ने चारू और कारू दो भागों में विभाजित किया है। चारू के अन्तर्गत चैक पूरना, मेंहदी लगाना तथा कारू कलाओं के अन्तर्गत सिलाई, कस्तकारी आदि उपयोगी कलाओं को रखा गया था। उस समय विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाओं जैसे तास, चौपड़ आदि को भी कला में स्थान प्राप्त था। प्राचीनकाल में ललितकला नाम से कोई कला-विभाजन नहीं था, इसलिए उस समय संगीत को भी उन 64 कलाओं में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त था, लेकिन आगे चलकर ललितकला नाम से कला का विभाजन हुआ, जिसमें संगीत-कला को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। हमारी अन्य ललित कलाएँ – चित्र, शिल्प, स्थापत्य तथा साहित्य की तरह संगीत भी एक अति प्राचीन कला है।

आगे चलकर संगीतज्ञों ने ललित कला को दो भागों में विभाजित किया, जिसे चल एवं अचल कला के नाम से जाना गया। अचल कला के अन्तर्गत उन कलाओं को रखा गया जिनकी प्रस्तुति करने के लिए एक निश्चित स्थान एवं अनेक सामग्रियों की आवश्यकता होती है। इसलिए इस कला के अन्तर्गत वास्तुकला, चित्रकला एवं मूर्तिकला को रखा गया है। ललितकला का दूसरा प्रकार चल कला है, जिसके अन्तर्गत उन कलाओं को रखा गया है जिनकी प्रस्तुति किसी भी समय, किसी भी स्थान पर सुगमतापूर्वक की जा सके। इस कला के अन्तर्गत संगीत एवं काव्य कलाओं को स्थान प्राप्त है। यदि सभी कलाओं के प्रदर्शन और उनमें उपयोग की जाने वाली सामग्रियों की दृष्टि से देखा जाए, तो संगीत को सबसे महत्वपूर्ण कला मानी गई है क्योंकि इस कला की प्रस्तुति के लिए किसी विशेष उपकरण की आवश्यकता नहीं होती है। यदि हम वास्तुकला या चित्रकला को प्रदर्शन की दृष्टि से देखें तो उसमें कई तरह के उपकरणों की आवश्यकता होती है, लेकिन संगीत में सिर्फ नाद की प्रधानता होने के कारण उसे एक साधारण व्यक्ति भी राह चलते हुए प्रस्तुत कर सकता है।

यदि नवीनता की दृष्टि से इन कलाओं का अध्ययन किया जाए तो कोई भी भवन, चित्र या मूर्ति आदि का निर्माण एक बार हो गया तो कलाकार उसमें लाख प्रयास कर ले, लेकिन उसमें अपनी कल्पना के अनुसार उसे नष्ट किए बिना उसका नया स्वरूप नहीं बना सकता। लेकिन यदि संगीत कला को लिया जाए तो उसमें सिर्फ नाद प्रधान होने के कारण एक ही गीत या बंदिश को जितने कलाकार अपने-अपने गले से गायन करेंगे, उसके स्वरूप अलग-अलग प्रकार के होंगे तथा प्रत्येक कलाकार उसे अलग-अलग तरीकों से प्रस्तुत कर सकता है। चल कला का कोई निश्चित स्वरूप नहीं होता। मतंग कृत ग्रंथ बृहद्देशी में रागध्यान की परम्परा का वर्णन किया गया है। उसमें भी यह वर्णन है कि राग के नादमय रूप यानी प्रस्तुति करने का तरीका अलग-अलग हो सकता है, लेकिन उसका देवमय रूप हमेशा समान ही रहता है। संगीत रत्नाकर में यंत्र काकु की विशेषताओं का वर्णन करते हुए पंडित शारंगदेव ने कहा है कि एक ही राग या गीत को अलग-अलग वाद्ययंत्रों पर बजाने से उसमें अलग-अलग भाव एवं रसों की निष्पत्ति होती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि ललितकला प्राचीनकाल से ही मनुष्य के लिए आनंद की खोज करती आ रही है।

कुछ विद्वानों के अनुसार प्राचीन काल से संगीत कला के मुख्य दो रूप प्रचलित हैं – शास्त्रीय रूप तथा लोक रूप। संगीत ग्रंथों में उन्हें ‘मार्गी’ एवं ‘देशी’ नाम से जाना जाता है। मार्गी संगीत के बारे में शास्त्रों में कहा गया है –

“मार्गी देशीति तद्वेधा तत्र मार्गः स उच्यते।

यो मार्गितो विरच्यद्यैः प्रयुक्तो भरतादिभिः।।”

अर्थात्, जिसका प्रयोग ब्रह्मा के बाद भरत ने किया, वह ‘मार्गी संगीत’ कहलाया। भारत का अति प्राचीन संगीत कठोर सांस्कृतिक व धार्मिक नियमों से बंधा हुआ था। उसका प्रयोग ईश्वर-आराधना के लिए होता था तथा उसे आध्यात्मिक उन्नति एवं मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग माना जाता था। इसी कारण उसे ‘मार्गी संगीत’ कहा गया। इस संगीत के साथ जिन तालों का प्रयोग किया जाता था, उसे मार्गीताली कहा जाता था, जिसकी संख्या आचार्य भरत एवं पंडित शारंगदेव ने पाँच बतलाई है।

देशी संगीत के लिए भी शास्त्रों में कहा गया है –

“देशे-देशे जनानां यद्रूच्या हृदयरंजकम्।

गानं च वादनं नृत्यं तद्देशीत्यभिधीयते।।”

अर्थात्, जिसका प्रयोग देश के विभिन्न भागों में वहाँ के स्थानिक रीति-रिवाजों के अनुसार जनता के मनोरंजन हेतु किया गया, वह ‘देशी संगीत’ कहलाया। इस संगीत का उपयोग मनोरंजन हेतु होता था तथा उसके नियम अत्यधिक कठिन नहीं थे। शास्त्रों में मार्गी संगीत को स्वर्ग एवं देशी संगीत को भूतल के मनोरंजन के लिए माना गया है।

प्रत्येक प्रदेश में यह संगीत भिन्न रहा। इसी कारण उसे ‘देशी संगीत’ कहा गया। संगीत के ये दो प्रकार – मार्गी तथा देशी – सदियों से प्रचलित हैं, जिसे भरत, मतंग, दत्तिल एवं शारंगदेव आदि संगीताचार्यों ने भी स्वीकार किया है। शास्त्रों के नियमानुसार परंपरा से उद्भव होने वाला संगीत ‘मार्गी संगीत’ है, जबकि लोकाभिरुचि के अनुसार प्रचलित होने वाला सरल संगीत ‘देशी संगीत’ है।

संस्कृति के दो भेद – शिष्टता तथा लौकिकता – अनादि काल से चले आ रहे हैं। पहले में बुद्धिपूर्वक आयोजित सप्रमाण-सौंदर्य दृष्टिगोचर होता है, जबकि दूसरे में सौंदर्य का नैसर्गिक तथा असंस्कृत स्वरूप दृष्टिगोचर होता है।

देशी, यानी लोक-संगीत, प्रत्येक प्रांत में, हरेक वर्ग में फैला हुआ है। ऐसी कोई भी संस्कृति नहीं होगी, जिसका निजी, पारंपरिक लोक-संगीत न हो। लोक-संगीत का उद्भव एवं विकास प्रादेशिक स्तर पर, स्थानिक रूप से हुआ है। अतः उस पर प्रदेश की भौगोलिक स्थिति, उसकी आबोहवा, भाषा, बोली, रीति-रिवाज, पोशाक, व्यवसाय, त्योहार इत्यादि का अत्यधिक प्रभाव होता है। यूँ कहना अनुचित नहीं होगा कि इन्हीं सब विषय-वस्तुओं की सांगीतिक अभिव्यक्ति से लोक-संगीत बना है। लोक-संगीत आम लोगों द्वारा अपने मनोभावों को अभिव्यक्त करने हेतु उद्भूत, स्वयं-स्फुरित, सहज संगीत है, जो साधारण लोगों के बीच का संगीत है। लोक-संगीत इच्छानुवर्ती संगीत है; शिष्ट-शास्त्रीय संगीत की तरह उसमें कठिन नियमावली नहीं है, जिसके कारण एक सामान्य या बिना संगीत-शिक्षा ग्रहण किए व्यक्ति भी उसकी प्रस्तुति सरलतापूर्वक मधुरता के साथ कर सकता है। लोक-संगीत की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि यह सामाजिक-साहित्य का दर्पण है, जिसे सुनकर उस समाज या प्रांत के जनजीवन के बारे में पता लगाया जा सकता है।

इसमें भावाभिव्यक्ति में परिष्कृति की अपेक्षा नैसर्गिकता अधिक पाई जाती है। साथ ही इसके धुन चार-पाँच स्वरों के आस-पास घूमते रहते हैं तथा एक ही धुन में नए-नए शब्दों को पिरोकर अनेक प्रकार के गीतों का निर्माण किया जाता है। मानव-मन की विविध भावनाओं के परिष्कृत एवं अभिव्यक्त स्वरूप को विद्वानों ने 'रस' संज्ञा दी है। भावनाओं की अभिव्यक्ति ही ललित कलाओं की उत्पत्ति का कारण है। अतः रस सभी ललित कलाओं का मूलभूत घटक-तत्त्व है, ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा।

एक ललित कला होने के नाते संगीत में, तथा संगीत का एक प्रकार होने के नाते लोक-संगीत में रस निश्चित रूप से विद्यमान है। आदि संगीतज्ञ भरत मुनि ने विभिन्न मनोभावों के आधार पर भिन्न-भिन्न आठ रस बताए। अभिनवगुप्त ने अन्य एक रस और बताया जिसे 'शांत' कहा जाता है। मधुसूदन, सरस्वती तथा विश्वनाथ ने 'शांत रस' को अस्वीकार करते हुए वात्सल्य एवं भक्ति रस को स्वीकार करके रसों की संख्या दस मानी है, लेकिन आधुनिक काल में 'शांत रस' मिलाकर कुल नौ रसों का प्रचलन है।

इस प्रकार रस-शास्त्र के अंतर्गत कुल नौ रस माने जाते हैं। नौ रस तथा उनके स्थायी भावों के नाम इस प्रकार हैं:-

श्रृंगार (भक्ति, वात्सल्य) – रति, हास्य – हास, करुण – शोक, रौद्र – क्रोध, वीर – उत्साह, भयानक – भय, वीभत्स – जुगुप्सा, अद्भुत – विस्मय, शांत - निर्वेद।

लोक-संगीत की उत्पत्ति बड़े सहज रूप से रस को अभिव्यक्त करते हुए हुई है। अतः इसमें रस का निरूपण अत्यंत सहज, सरल रूप से पाया जाता है। प्रायः हमारे रुदन या हास्य जितना सरल। जैसे ये बिल्कुल अजाग्रत रूप से होने वाली नैसर्गिक क्रियाएँ हैं, लोक-संगीत की रसाभिव्यक्ति भी उतनी ही नैसर्गिक, अजाग्रत रूप से होने वाली क्रिया है। लोक-संगीत में रसाभिव्यक्ति भावानुभूति की काफी करीबी होती है। उसमें भावनाएँ प्रायः उनके मूल रूप में अपने आप अभिव्यक्त हो जाती हैं। उन्हें सुसंस्कृत रूप से अधिक परिष्कृत करके अभिव्यक्त नहीं किया जाता। लोक-संगीत में रस का निरूपण प्रयत्नपूर्वक नहीं होता, वह स्वयंभू, नैसर्गिक होता है। बिना अधिक परिष्कृति के हुआ यह रस-निरूपण काफी पारदर्शी लगता है। शास्त्रीय संगीत की रसाभिव्यक्ति किसी प्रौढ़ व्यक्ति की भाँति प्रगल्भ है, जबकि लोक-संगीत की रसाभिव्यक्ति बालक की तरह सरल, सहज है। लोक-संगीत में रस का निरूपण शास्त्रीय संगीत की तरह जटिल, अटपटा नहीं है, इसीलिए यह संगीत, जिन्हें संगीत का ज्ञान न हो, ऐसे श्रोताओं-दर्शकों को भी आसानी से रस-विभोर कर देता है।

लोक-संगीत बहुत ही आसानी से आम लोगों को अपने प्रति आकर्षित कर सकता है, कर देता है। लोक-संगीत की तीनों विधाएँ – गायन, वादन तथा नर्तन – में असंख्य प्रकार विद्यमान हैं। इन प्रकारों में भिन्न-भिन्न रसों की

उपस्थिति होती है। इस बात को यूँ भी कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न प्रसंग के अनुरूप, भिन्न-भिन्न रस की अनुभूति होने से उनकी अभिव्यक्ति हेतु विभिन्न प्रकार के लोक-संगीत अस्तित्व में आए। भजन, गरबा जैसे संगीत प्रकार में भवित (श्रृंगार का प्रकार) रस पाया जाता है, मृत्यु के समय गाए जाने वाले गीतों में करुण रस पाया जाता है, इत्यादि लोक-संगीत में मौजूद विभिन्न रस के दृष्टांत हैं। एक महत्वपूर्ण उल्लेखनीय बात यह भी है कि लोक-संगीत स्थानिक, प्रादेशिक संगीत है। वह प्रादेशिक रीति-रिवाज, भाषा के अनुसार होता है। अतः उसका विषय-वस्तु एवं उसमें अभिव्यक्त रस स्थानिक लोग तो अनुभव कर सकते हैं, किन्तु कोई बाहरी व्यक्ति किसी अन्य प्रदेश के लोक-संगीत में निरूपित रस का अनुभव करने में सक्षम हो, यह आवश्यक नहीं है। जैसे, गुजरात में आदि-शक्ति माता की भक्ति के रूप में पारंपरिक रूप से गरबा प्रस्तुत होता है, जिसमें स्वाभाविक रूप से भक्ति रस का निरूपण होता है।

गुजरात के स्थानिक लोग इस परंपरा से परिचित हैं, गरबा में उपयुक्त भाषा से परिचित हैं, अतः वे इसमें भक्ति रस का अनुभव अवश्य करेंगे। किन्तु बाहरी व्यक्ति इसमें भक्ति रस महसूस कर ही पाए, यह आवश्यक नहीं है। क्योंकि न तो उसे माता की आराधना की यह परंपरा का ज्ञान है, न ही गुजराती भाषा की समझ है। हाँ, संगीत की वजह से वह गरबा के प्रति आकर्षित अवश्य होगा। यह भी संभव है कि गरबा के सौंदर्य से उसे श्रृंगार रस का अनुभव हो। लोक-संगीत की तीनों विधाओं (गायन-वादन-नर्तन) में रस के अनुरूप परस्पर सायुज्य होता है। उनके घटक जैसे – स्वर, लय, शब्द, अभिनय इत्यादि – में रस के अनुरूप परिवर्तन भी होते रहते हैं।

इसी प्रकार असम में भी बिहू के अतिरिक्त नागा-नृत्य, नट-पूजा, कलिंगोपाल, खेल गोपाल, महारास, बोईसाजू, झुमुरा, बुगुरुम्बा, बिछुआ, अकिंयानाट, होब्जानाई, तबल चैंगबी आदि प्रचलित हैं, जिनमें गायन के साथ लोक-नृत्यों की भी संगति की जाती है। इन लोक-नृत्यों में बिहू के तीन प्रकारों का प्रचलन है, जिनसे अलग-अलग नृत्यों में अलग-अलग प्रकार के रसों की प्राप्ति होती है, लेकिन उसका नाम एक ही है, जिसे बिहू के नाम से लोग जानते हैं। इसका प्राचीन रूप आरण्यक नृत्यों की परंपरा से जुड़ा हुआ है। इस नृत्य का प्रचलन असम के कीरी तथा कछारी (कचारी) जनजातियों में है, जिसे वर्ष में तीन बार आयोजित किया जाता है। इन्हें बोहाग बिहू, माघ बिहू और वैशाख बिहू के नाम से जाना जाता है।

बोहाग बिहू :- इस बिहू नृत्य का आयोजन नववर्ष के आगमन के समय उसका स्वागत करने के लिए वर्ष के प्रथम दिन किया जाता है।

माघ बिहू :- धान की फसल के पक जाने पर सुख एवं समृद्धि को व्यक्त करने के लिए इस नृत्य का आयोजन किया जाता है।

वैशाख बिहू :- बसंतोत्सव के समय आनंद के प्रतीक के रूप में इस नृत्य का आयोजन किया जाता है।

इसी प्रकार भारत के प्रत्येक राज्यों में कई प्रकार के लोकगीतों का प्रचार-प्रसार है, जिनमें अलग-अलग स्वर एवं तालों के प्रयोग से अलग-अलग रस एवं भावों की उत्पत्ति होती है।

निष्कर्ष:-

भारत के विभिन्न प्रांतों में लोकगीतों के अनेक प्रकार प्रचलित हैं, जिनके प्रदर्शन से विभिन्न रसों की उत्पत्ति होती है। यह घटक तत्त्व शास्त्रीय संगीत की तरह ही लोकसंगीत में भी रसाभिव्यक्ति का माध्यम हैं। अंतर केवल इतना है कि जहाँ शास्त्रीय संगीत में इनकी साधना की जाती है, वहीं लोकसंगीत में ये प्रायः स्वतः सिद्ध होते हैं। सौंदर्य एवं भावाभिव्यक्ति मनुष्य मात्र की सहज आवश्यकता है। ललित कलाएँ इन दोनों आवश्यकताओं की एक साथ

पूर्ति करती हैं। कलाओं का शास्त्रीय स्वरूप आम लोगों जिन्होंने इसकी शिक्षा न पाई हो के लिए आसानी से ग्राह्य नहीं है। उसकी जटिलता की अपेक्षा लोककलाओं की सरलता और नैसर्गिकता अधिक लोक-भोग्य है।

अतः आम लोगों की सौंदर्य तथा भावाभिव्यक्ति जैसी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु लोककलाओं का अस्तित्व बना रहना सराहनीय और इच्छनीय है, जिनमें लोकसंगीत भी एक है।

संदर्भ सूची: -

1. गर्ग, डॉ. लक्ष्मीनारायण. संगीत विषारद. पृष्ठ संख्या – 58.
2. भार्गव, डॉ. सरोज. सौंदर्यबोध एवं ललित कलाएँ. पृष्ठ संख्या – 125.
3. नागेन्द्र, डॉ. रस सिद्धांत. पृष्ठ संख्या – 252.
4. वही. रस सिद्धांत. पृष्ठ संख्या – 253.
5. पाठक, पं. जगदीश नारायण. संगीत निबंध माला. पृष्ठ संख्या – 122.
6. स्नेही, डॉ. शिखा. संगीत. पृष्ठ संख्या – 326.